ISSN 0974-8857

तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑÁ

वर्ष 41 • अंक 162-163 • अप्रेल-दिसम्बर, 2014

A Peer Reviewed Research Half Yearly

जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं - 341 306 (राजस्थान) भारत
JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE
Ladnun - 341 306, Rajasthan, India

TULSÍ PRAJÑÁ
Vol. 162-163

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
प्रकाशन सूची

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक/सम्पादक	मूल्य
01.	Anekant: Reflection & Clarification	Acharya Mahaprajna	30
02.	Anekant: Views & Issues	Acharya Mahaprajna	30
03.	Shraman Bhagvan Mahavir Life & Doctrine	Shri S.C. Rampuria	300
04.	Anekanta- The Third Eye	Acharya Mahaprajna	195
05.	Science in Jainism	Prof. M.R. Gelra	200
06.	The Quest for Truth	Acharya Mahaprajna	195
07.	Sound of Silence	Acharya Mahaprajna	140
08.	Journey into Jainism	Sadhvi Vishrut Vibha	39
09.	Jain Studies & Science	Prof. (Dr.) M.R. Gelra	400
10.	Non-violence Relative Economics and A New Social Order	Prof. B.R. Dugar/Dr. Satya Prajna/ Dr. Samani Ritu Prajna	500
11.	Jain Biology	Late Shri Jetha Lal S. Zaveri/ Prof. Muni Mahendra Kumar	200
12.	Samayasara	Late Shri Jetha Lal S. Zaveri/ Prof. Muni Mahendra Kumar	450
13.	Jain Paribhasika Sabdakosa	Mukhya Niyojika Sadhvi Vishrutavibha	1125
14.	Bhagavai-2	Acharya Mahaprajna Eng. Tran. by Prof. Muni Mahendra Kumar & Late Dr. N. Tatia	1695
15.	JVB & JVBU Research Work	Samani Agam Prajna/Dr. Vandana Mehta	100
16.	Bibliography of Jain Text in Tamil	Shri K.P. Aravanan	50
17.	The Enigma of the Universe	Prof. Muni Mahendra Kumar	500
18.	Preksha Meditation and Human Health	Prof. J.P.N. Mishra and Dr. P.S. Shekhawat	500
19.	आचार्य महाप्रज्ञ का संस्कृत साहित्य	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	550
20.	युग को आचार्य महाप्रज्ञ का योगदान	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय/डॉ. जे.पी.एन. मिश्रा	100
21.	अंगुत्तर निकाय भाग-1	श्री श्रीचंद रामपुरिया	50
22.	अंगुत्तर निकाय भाग-2	श्री श्रीचंद रामपुरिया	60
23.	महाभारत परिक्रमा	श्री श्रीचंद रामपुरिया	60
24.	श्रमण सूक्त	श्री श्रीचंद रामपुरिया	150
25.	तीर्थंकर वर्द्धमान जीवन प्रसंग	श्री श्रीचंद रामपुरिया	60
26.	आवश्यक निर्युक्ति खण्ड-1	डॉ. समणी कुसुम प्रज्ञा	400
27.	आचारांग और महावीर	साध्वी श्रुतयशा	150
28.	सन्मति का समीक्षात्मक अनुशीलन	समणी स्मित प्रज्ञा	100
29.	रत्नपालचरितम्	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	100
30.	दूरस्थ शिक्षा की उपयोगिता	डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	100
31.	नई सुबह	डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	100
32.	जैन संस्कृति और जीवन मूल्य भाग-1,2,3	डॉ. समणी ऋजु प्रज्ञा	75
33.	भिक्षु न्यायकर्णिका	पं. विश्वनाथ मिश्र	120
34.	जीवन विज्ञान और स्वास्थ्य	डॉ. समणी ऋजु प्रज्ञा/समणी चैतन्य प्रज्ञा	120
35.	योग वैशिष्ट्य	डॉ. जे.पी.एन. मिश्रा	400
36.	अर्द्धमागधी साहित्य में गणित	डॉ. अनुपम जैन	200
37.	जैन पारिभाषिक शब्दकोश	मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभा	995
38.	जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त	डॉ. समणी ऋजु प्रज्ञा	110
39.	शिक्षा दर्शन एवं मूल्य विकास	डॉ. समणी मलिन प्रज्ञा/डॉ. हेमलता जोशी	160
40.	प्रेक्षाध्यान और योग	डॉ. समणी ऋजु प्रज्ञा	150

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. अनिल धर द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान • लाडनूं के लिए प्रकाशित एवं गिरधर ऑफसेट प्रिन्टर्स, लाडनूं द्वारा मुद्रित

तुलसी प्रज्ञा ISSN 0974-8857

TULSI PRAJÑĀ

A Peer Reviewed Research Half Yearly of Jain Vishva Bharati Institute

YEAR-41 VOL.-162-163 APRIL-DECEMBER, 2014

अनुक्रमणिका / CONTENTS

ENGLISH SECTION

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	7-12
Understanding Spirituality And Science	Prof. S.R. Bhatt	13-26
14 *Dhārās* (Sequences and Sub-sequences) of *Trilokasāra* of Nemicandra (10th C CE) [1]	R.S. Shah	27-45
Managing Obesity in Adolecent School Children Through Yoga-Preksha Meditation	Chander Ramesh , Bala, Raj , Mishra Jpn	46-53
Relative Economics- A Paradigm of Transformation in System	Dr. Samani Rohini pragya	54-60
Applied Jain Non-violence: Meditation as a Remedial Approach	Dr Samani Shashi Prajñā	61-66
Countering the Stress in Children	Dr. Rashmi Dhar	67-74
Gāruḍa Upaniṣad: Mythology and Philosophy	Bidisha Choudhury	75-84
Achyarya Tulsi, Anuvrata and Social Work	Pratap Chandra Behera	85-90

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृ. संख्या
गीता दर्शन में त्याग की अवधारणा	डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	91-97
उत्तराध्ययन सूत्र में मानवीय मूल्य : एक विमर्श	डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा	98-105
उपनिषदों में अहिंसा के स्वर	डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा	106-111
गांधी का मानवीय अर्थशास्त्र	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	112-118
अद्वैत एवं बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. योगेश कुमार जैन	119-128
संस्कृतकाव्यशास्त्र एवं प्राकृतकाव्यसाहित्य	डा. सुमन कुमार झा	129-138
आचार्य तुलसी का स्वस्थ समाज संरचना में योगदान	डॉ. सुनीता इन्दोरिया	139-144

गीता दर्शन में त्याग की अवधारणा

– डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

संतों, ऋषियों, महर्षियों की यह भारतभूमि अनादिकाल से त्याग की भूमि रही है, ऐसा कहना कोई अतिरंजनापूर्ण कथन नहीं होगा। इस भूमि में ही भगवान राम अयोध्या का राज्य त्यागकर वन को गये थे, पांचों पाण्डव अपने इन्द्रप्रस्थ राज्य को त्यागकर पांचों भाइयों के लिए पांच गांव लेने तक तैयार हो गये थे, राजा दिलीप गाय की रक्षा के लिए अपना शरीर तक त्याग रहे थे, सत्य की रक्षा के लिए राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सर्वस्व त्याग दिया था, पक्षी की रक्षा के लिए राजा शिवि ने अपने तक को दांव पर लगा दिया था, नचिकेता पिता के वचन की पूर्ति हेतु सर्वस्व त्यागकर यमराज के पास चला गया था। ये कुछ ऐसे उदाहरण है जो त्याग की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। त्याग एक धर्म है। इस धर्म का पालन वही कर सकता है जो इहलोक एवं परलोक के विषय-विकारों को जीत लेता है। जिसमें अनाशक्त चेतना का विकास होता है वही त्याग धर्म का पालन कर सकता है। जैन दर्शन में त्याग को परिभाषित करते हुए कहा गया है 'व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः'[1] अर्थात् व्युत्सर्ग ही त्याग है। राजवार्तिक में तो यहां तक कहा गया है– परिग्रहस्य चेतना चेतन लक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते[2]। अर्थात् चेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन में त्याग को अचित संसाधनों तक ही नहीं अपितु चित तत्त्वों को भी समाहित किया गया है। सांख्य दर्शन में भी दुःखों की चर्चा करते हुए त्याग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

"दुष्टवदानुश्रविकः सहयविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्"[3]।।

यहां दुखों की निवृत्ति के लिए प्रत्यक्ष एवं सुने गये कारण को त्यागने की बात कही गयी है इसी तथ्य को प्रति पादित करते हुए पातञ्जल योग सूत्र में कहा गया

है- **'दृष्टानुश्रविकः विषय वितृणस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**[4] यहां प्रत्यक्ष एवं अनुश्रविक समस्त प्रकार के विषयों के त्याग को अपर वैराग्य कहा गया है। जहां तक गीता दर्शन की बात है यह महाभारत का एक अंश है। यह 18 अध्यायों एवं 700 श्लोकों से समावोष्ठित है। गीता एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। युद्ध के बहाने अध्यात्म की जो शिक्षा गीता में मिलती है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो पढ़ने पर सरल से सरलतम किन्तु सुनने में गूढ़ से गूढ़तम माना जाता है। इसके पद-पद में रहस्य भरा हुआ है। भगवान के गुण, प्रभाव और मर्म का वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्र में किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थों में मिलना कठिन है। इसीलिए वेदव्यासजी ने महाभारत में गीता का वर्णन करने के उपरान्त इसके महात्म्य के बारे में कहा है-

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृता।।

अर्थात् गीता सुगीता करने योग्य है, इसे भली प्रकार पढ़कर अन्तःकरण में धारण करना चाहिए। क्योंकि यह स्वयं भगवान विष्णु के मुखारबिन्द से निकली हुई है फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन है। गीता के 18वें अध्याय में ही गीता की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है -

"य इमं परमं गुह्यं मदभक्तेव्वभि धास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।"[5]

अर्थात् जो पुरुष मुझमें समर्पित होकर इस परमरहस्य युक्त गीता भाष्य को मेरे भक्तों में कहेगा अर्थात् निष्कामभाव से प्रेमपूर्वक मेरे भक्तों को पढ़ायेगा, वह निस्सन्देह मुझे प्राप्त करेगा। ज्ञानी, पुरुषार्थी तथा भक्ति में निमज्जित व्यक्ति के लिए गीता मार्गदर्शिका तो है ही किन्तु अज्ञानियों, अपुरुषार्थियों एवं नास्तिकों के लिए सद् मार्गदर्शिका है। गीता में त्याग को निःश्रेयस के लिए आवश्यक माना गया है। गीता के अठारहवें अध्याय में त्याग की विस्तृत मीमांसा इसलिए दी गयी है ताकि साधक त्याग को समझकर अपने जीवन के उच्चतम लक्ष्य को हासिल कर सके। प्रायः संन्यास और त्याग को एक समान समझा जाता है। जिसने संन्यास ले लिया प्रायः वह सभी भौतिक वस्तुओं से निवृत्त होना चाहता है। धन, वैभव, सत्ता, उपाधि आदि से ऊपर उठकर सद्गति के लिए प्रयास करता है। किन्तु गीता में संन्यास और त्याग के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयोःविदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।[6]

अर्थात् कितने ही पण्डितवर काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास मानते हैं और कितने ही विचारशील व्यक्ति सम्पूर्ण कर्मों के त्याग को 'त्याग' कहा है। अर्थात् काम्यकर्मों का त्याग

संन्यास है और सम्पूर्ण कर्मों का त्याग, त्याग है। यश, दान, तप और उपासना आदि कर्म काम्यकर्म हैं। ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूर्जन, माता-पितादि, गुरुजनों की सेवा, यश, दान, तप तथा वर्णाश्रम के अनुसार आजीविका द्वारा गृहस्थ का निर्वाह आदि जितने भी कर्त्तव्य कर्म हैं, उन सबमें इहलोक और परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम ही त्याग है। यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि देहधारी व्यक्तियों के द्वारा सम्पूर्णता से सभी कर्मों का त्याग आसान नहीं है। अतः इससे परे जो सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर लेता है, वह ही 'त्यागी' कहा जाता है -

"न हि देहभृता शक्तुं तयक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।[7]

गीता कहती है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी त्याग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। यहां परमात्मा को प्राप्त करने के लिए त्याग को प्रमुख साधन माना है। यहां त्याग को सात श्रेणियों में विभक्त कर स्पष्ट किया गया है। जो इस प्रकार है-

1. निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग ही त्याग है - प्रायः धर्मग्रन्थ यही मानते हैं कि इस धर्मग्रन्थ में जो निषिद्ध कर्म बतलाये गये हैं उनका त्याग आवश्यक है। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, आगमग्रन्थ, बाइबिल, कुरान, जेन्दा अवेस्ता आदि धर्मग्रन्थों में निषिद्ध कर्मों का उल्लेख है। गीता में हेय कर्म को ही निषिद्ध कर्म कहा गया है। चोरी, झूठ, छल, कपट, हिंसा, प्रमाद, व्याभिचार, कामाचार, दुराग्रह आदि शास्त्रविरूद्ध कर्मों को मन, वाणी एवं शरीर से न करने के संदर्भ में वकालत की गयी है। उल्लेख है-

"रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ताराजसः परिकीर्तितः।।"[8]
"यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेवच।
नविमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सापार्थतामसी।।[9]

उपर्युक्त राजसी एवं तामसी कर्म भी गीता में निषिद्ध कर्म माने गये हैं। निषिद्ध कर्म किसी भी स्थिति में नहीं करने चाहिए।

2. काम्य कर्मों का त्याग - स्त्री, पुत्र और आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा रोग-भोगादि के निवारण के लिए जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं। वे ही काम्य कर्म है अर्थात् यदि किसी इच्छा या, कामना की पूर्ति के लिए जो कर्म किये जाते हैं वे काम्य कर्म हैं। 'स्वर्ग कामो यजेतः' अर्थात् स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ करना चाहिए। इस संदर्भ में गीता कहती है-

"त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।"[10]

अर्थात् कई विद्वानों का मानना है कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं। इसलिए त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वानों के अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं है। दोनों प्रकार के मतों में गीता का स्पष्ट मत है कि यज्ञ, दान एवं तपादि कर्म निस्सन्देह उत्तम कर्म हैं। यदि ये कर्म किसी फल के वशीभूत होकर किये जाते हैं तो ये निस्सन्देह त्याज्य हैं। स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना, गरीब को धनी बनाने के उद्देश्य से उसे मदद करना तथा उपरि गति के लिए तप करना ये काम्य कर्म है। अतः इन कर्मों का त्याग आवश्यक है किन्तु यदि आसक्ति और फलों को त्यागकर यज्ञ, दान, तप, रूप कर्म तथा अन्य श्रेष्ठ कर्म किये जाते हैं तो वे त्यागने योग्य नहीं हैं। कहा भी गया है -

"एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मेतमुत्तमम्।।"[11]

अतः सकाम तप, दान, उपासनादि कर्म त्याज्य हैं।

3. तृष्णा का सर्वथात्याग - तृष्णा से तात्पर्य इच्छा, कामना, अभिलाषा से है। तृष्णा एक प्रकार की लालच है। लालच के वशीभूत होकर ही व्यक्ति स्वत्व को खो देता है। कवि का चित्रण है - विकसित कमलिनी के परागपान में मस्त भ्रमर को यह पता ही नहीं चलता कि कब शाम हो गयी और पंखुड़ी के बंद होने से वह भी उसमें बंद हो जाता है और अगले सुबह का इन्तजार करता है तथा पुनः परागपान की अभिलाषा रखता है किन्तु 'हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार' प्रातः होते ही एक हाथी के द्वारा उस कमलिनी को मर्दित कर दिये जाने पर वह लालची भौंरा अपना अस्तित्व समाप्त कर बैठता है। पतंगा भी अग्नि की शिखा में आसक्त होकर अपने अस्तित्व की बलि दे देता है। कहा गया है -

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तद ग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।[12]

अर्थात् जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह भले ही प्रारम्भ में अमृत के समान लगे परन्तु परिणाम में विष के सदृश है। अतः त्याज्य है। ऊपर के दृटान्त में भ्रमर और पतंगा तृष्णा के वशीभूत होकर अपने असतित्व को भी समाप्त कर लेता है।

4. स्वार्थ के लिए परसहयोग का त्याग - जर्मनी के महान दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट ने कभी कहा था कि कभी अपने स्वार्थ की सम्पूर्ति के लिए दूसरों को साधन के रूप में उपयोग मत करो। अर्थात् अपने कार्य की सिद्धि अपने पुरुषार्थ से करो। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि अवसर आने पर किसी की सेवा ली और अवसर निकल गया तो उसे दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया। इसलिए गीता स्वार्थ के वशीभूत होकर तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु दूसरों को साधन के रूप में उपयोग की इजाजत नहीं देती है। स्वार्थ और परावलम्बन के लिए गीता में कोई स्थान नहीं है। जहां निष्काम कर्म पर बल दिया गया हो वहां स्वार्थ

के लिए स्थान कहां? जहां ईश्वर परायण की बात कही गयी हो वहां भौतिक परावलम्बन के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अतः अपने सुख एवं अपने कल्याण के लिए दूसरों का सहयोग लेना या किसी के द्वारा दी हुई सेवा को स्वीकार करना या स्वीकार करने की इच्छा रखना यह अपने स्वार्थ के लिए दूसरों से सेवा कराने के भाव हैं, जो ठीक नहीं है, अतः त्याज्य है। यहां स्वार्थ के संबंध के स्थान पर जल से कमलवत जैसे - निर्लिप्त संबंध को उकेरा गया है, यथा-

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।"[13]

यहां स्पष्ट संदेश है कि सम्पूर्ण स्वार्थों की तिलांजलि देकर अपना सर्वस्व परमात्मा में अर्पणकर यदि कोई पुरुषार्थ करता है तो वह जल के कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिंपायमान नहीं होता है।

5. आलस्य और फल की इच्छा का त्याग - युद्धभूमि में अर्जुन को अपने सामने विपक्षी सेना में अपने सगे-संबंधियों को देख उसे मोह हो जाता है और मोह के वशीभूत होकर वह प्रमादी की तरह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है, ऐसी विषम स्थिति में ही कृष्ण ने अर्जुन के मोह एवं आसक्ति को समाप्त करने के लिए निष्काम कर्म की शिक्षा दी। यह निष्काम कर्म ही अर्जुन को कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। गीता कहती है -

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि।।"[14]

अर्थात् बिना किसी फल की चिन्ता करते हुए अपने कर्म को करना चाहिए। बिना फल की इच्छा के किया गया कर्म ही श्रेष्ठ कर्म है उससे व्यक्ति न सुख-दुःख की अनुभूति करता है और न ही पाप-पुण्य के बन्धन में ही बंधता है। वह सदैव सम स्थिति में रहता है। यहां आलस्य और कामना के त्याग के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं-

(अ) ईश्वर भक्ति में आलस्य और कामना का त्याग

(ब) देवताओं की उपासना में आलस्य और कामना का त्याग

(स) माता-पितादि की सेवा में आलस्य और कामना का त्याग

(द) यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मों में आलस्य और कामना का त्याग

(य) शरीर संबंधी कर्मों में आलस्य और कामना का त्याग

(र) आजीविका के कर्मों में आलस्य और कामना का त्याग

कर्त्तव्यकर्मों का निःस्वार्थ भाव से केवल परमेश्वर के लिए आचरण करना ही सब प्रकार से परमात्मा के अनन्यशरण होना है। कहा गया है-

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।"[15]

अर्थात् निष्कामभाव से बिना किसी आलस्य के ईश्वर में अपना सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिए।

देवताओं की उपासना भी सकाम नहीं होनी चाहिए। कार्य सिद्ध होने पर भगवान के दर्शन करने या लड्डू चढ़ाने का संकल्प सकाम संकल्प है, जिसका त्याग आवश्यक है। माता-पिता, आचार्य एवं अन्य पूजनीय की सेवा में भी न कोई शर्त होनी चाहिए और न ही प्रमाद होना चाहिए। यज्ञ, दान और तप भी बिना फल की इच्छा के निरन्तर करना चाहिए। शरीर निर्वाह के लिए शास्त्रोक्त रीति से भोजन, वस्त्र एवं औषधियों का सेवन बिना निजी कामना और प्रमाद के करना चाहिए। अपने-अपने कर्म के अनुसार आजीविका के लिए निर्धारित कर्म भी बिना किसी फल की इच्छा के करना चाहिए।

6. सम्पूर्ण पदार्थों में आसक्ति का त्याग - त्याग उपर्युक्त पांचों श्रेणियों में देखा जाता है किन्तु जब तक ममता और आसक्ति का त्याग नहीं हो जाता तब तक सच्चिदानन्द परमात्मा में अनन्य भाव से समर्पण नहीं हो पाता है। दृढी श्रेणी के त्याग को प्राप्त हुए पुरुषों का संसार के सम्पूर्ण पदार्थों से अनासक्त होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। कहा भी गया है -

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्।।[16]

अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ, प्रसन्नचित वाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। वह सब भूतों में समभाव हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है। तृतीय अध्याय में भी कहा गया है -

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्मसमाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।"[17]

अर्थात् अनासक्त भाव से तू निरन्तर कर्मभाव का अच्छी प्रकार आचरण कर क्योंकि अनासक्त पुरुष ही कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त करता है।

7. सम्पूर्ण कर्मों में वासना एवं अहंभाव का त्याग - वासना एवं अहंभाव को ऐसा दुर्गुण माना गया है जो व्यक्ति के बन्धन के कारण हैं। वासना संस्कार को कहते हैं। यह संस्कार सूक्ष्मतम रूप में स्थित होकर व्यक्ति को पुनर्जन्म के लिए बाध्य करता है। अहंकार तो पतन का प्रमुख कारण है। कहा भी गया है -

"अहंकार में तीनों गये धन, वैभव और वंश।
न जानो तो देख लो, रावण, कौरव और कंस।।"

सचमुच प्रतापी रावण, घमण्डी दुर्योधनादि कौरव तथा निष्ठुर कंस का पतन इसलिए हुआ था कि वे अहंकार के मद में इतने चूर हो गये थे कि उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति का भान ही नहीं था। इसलिए भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं-

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।"[18]

अर्थात् हे अर्जुन! वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं। प्रकृति के तीन गुण हैं- सत, रज और तम। सुख, प्रसन्नता आदि के कार्य सतों गुण द्वारा, दुःख, कष्ट, चंचलता के कार्य रजोगुण द्वारा तथा आलस्य, निद्रा, तन्द्रा तथा प्रमाद के कार्य तमो गुण द्वारा होता है। फिर भी अहंकार से ग्रस्त अन्तःकरण वाला पुरुष मैं कर्ता हूं, ऐसा मानकर कर्मबद्ध होता है। अतः वासना और अहंभाव की जड़ से तिलांजलि देकर सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप में एकीभाव से दृढ़ होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गीता दर्शन में त्याग धर्म को सात श्रेणियों में विभक्तकर इसकी सांगोपांग विवेचना हुई है। इन सातों अवस्थाओं में परिपक्व होकर पुरुष सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। फिर उसके लिए नाशवान, क्षणभंगुर संसार का अस्तित्व वैसे ही नहीं रह जाता जैसे स्वप्न से जगे हुए पुरुष का स्वप्न संसार से कोई संबंध नहीं रह जाता है।

सन्दर्भ सूची :

1. सर्वार्थसिद्धि, 9/26/443/10
2. राजवार्तिक, 9/6/18/598/5
3. सांख्यकारिका कारिका-2
4. पातञ्जल योगसूत्र, 1/15
5. भगवद्गीता 18/68
6. वही, 18/2
7. वही, 18/11
8. वही, 18/27
9. वही, 18/35
10. वही, 18/3
11. वही, 18/6
12. वही, 18/38
13. वही, 5/10
14. वही, 2/47
15. वही, 18/62
16. वही, 18/54
17. वही, 3/19
18. वही, 3/27

— निदेशक
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं